शब्द और अर्थ

लक्ष्मीनारायाण मित्तल*

भाषा विचार-अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है। भाषा यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की ऐसी व्यवस्था है जिसके द्वारा किसी समाज-विशेष के लोग परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। भाषा का मूल रूप मौखिक है और किसी भाषा की लिपि होना जरूरी नहीं है। प्रत्येक भाषा का अपना एक अलग व्याकरण होता है। कोई भी भाषा शब्द और अर्थ के मेल से ही बनती है, अतः दोनों का अपना एक अलग महत्त्व होता है। चूंकि भाषा का माध्यम ध्वनि-संकेत होते हैं और ये ध्वनि-संकेत ऐच्छिक होते हैं। अतः किसी भी भाषा में जब हम शब्दों का अर्थ देते हैं तो वे मात्र प्रतीक होते हैं। भाषा की तीन शब्द-शक्तियाँ-अबिधा, लक्षणा और व्यंजना एक ही शब्द का अलग अर्थ देती हैं। क्योंकि वक्ता और श्रोता दोनों का वस्तु-बोध एक जैसा नहीं होता इसलिए दोनों का अर्थबोध भी अलग-अलग हो सकता है। इस लेख में यह बात स्पष्ट करने की कोशिश की गई है कि शब्द विशेष और अर्थ विशेष के बीच संबंध आरोपित है। वास्तव में शब्द में अर्थ आघान नहीं होता है, अतः हमें शब्द पर नहीं अर्थ पर ज्यादा ध्यान देना चाहिए।

परस्पर संवाद के लिए भाषा को सबसे सशक्त माना जाता है। वास्तविकता तो वस्तु में निहित है। यहाँ 'वस्तु' शब्द में सभी भावों को समाहित किया गया है, मात्र ठोस वस्तुओं को नहीं। भाषा इस वास्तविकता को व्यक्त करने के लिए किन्हीं ध्वनि संकेतों का प्रयोग करती है। ये ध्वनि संकेत भी वक्ता और श्रोता के बीच ठीक उसी प्रकार की वास्तविकता का चित्रण नहीं करते जैसा ठीक-ठीक अर्थ वक्ता श्रोता तक पहुँचाता है। हालांकि परस्पर संवाद स्थापित करने के लिए भाषा के अलावा भी बहुत-से साधन हैं। इशारे, रंग, झंडियाँ आदि, परंतु ये पूर्ण नहीं हैं। बिहारी कहते हैं-'भरे भौन में करत हैं नैनन ही सौं बात।' परंतु ये शब्द बहुत सीमित स्तर पर अर्थ का संप्रेषण कर सकते हैं।

* सेवानिवृत्त *प्राचार्य*, 10, विष्णु रोड, देहरादून-248001

भाषा क्या है? इसके प्रत्युत्तर में भाषा की एक सटीक परिभाषा यह हो सकती है - *भाषा किसी यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की ऐसी व्यवस्था है, जिसे किसी समाज का व्यक्ति परस्पर विचार-विनिमय के लिए प्रयोग में लाता है।*

इससे कुछ बातें स्पष्ट हैं-भाषा एक माध्यम है, लक्ष्य नहीं। भाषा व्यवस्था है। यह व्यवस्था मानव-निर्मित है, ईश्वर प्रदत्त या प्रकृत नहीं। भाषा ध्वनियों की व्यवस्था है, लिखित चिह्नों की नहीं। भाषा की यह व्यवस्था ऐच्छिक है-यह व्यवस्था विचारों के आदान-प्रदान के लिए है। ऐसा आदान-प्रदान समाज में रहकर ही होता है। भाषा की व्यवस्था ही उसका व्याकरण है, अत: ऐसी कोई भाषा नहीं हो सकती जिसका व्याकरण न हो। व्यवस्था से यह भी तात्पर्य है कि यह व्यवस्था पूर्ण होती है। अत: कोई व्यवस्था ऊँची होगी कोई व्यवस्था नीची। ऐसा नहीं होता है। अत: यह भी सत्य नहीं है कि कोई भाषा उच्च होती है, कोई निम्न। अपने परिवेश को व्यक्त करने के लिए वह भाषा पूर्ण होती है। किसी भाषा की लिपि होना ज़रूरी नहीं है। मूलत: भाषा मौखिक है। वह भाषा भी व्यवस्थाबद्ध होती है, जो लिखी नहीं जाती। यह सही है कि किसी भाषा को लिखने के लिए कोई लिपि ज्यादा उपयुक्त हो सकती है, कोई कम।

प्राय: हम भाषा को लक्ष्य मान लेते हैं, जबकि भाषा एक माध्यम है। वह माध्यम परस्पर विचारों के आदान-प्रदान का ही होता है। क्या बिना भाषा के भी विचारों का आदान-प्रदान हो सकता है? यह विवाद का विषय है कि जब कोई भाषा नहीं होती तब भी क्या मनुष्य सोच सकता है? जो लोग ध्वनि-संकेतों का प्रयोग करते हैं, उनमें से बहुत-से लोग यही कहते हैं कि वे सोचते हुए एकल शब्द नहीं सुनते, विचार पुंज का इकट्ठा अनुभव करते हैं। अधिकांश लोगों का यह कहना है कि वे सोचते हुए अपने ध्वनि-संकेतों से निर्मित शब्द के स्थान पर उसकी पूरी छाप का अनुभव करते हैं। यह कहा जाता है कि जो जन्मजात बधिर होता है वह मूक भी होता है, क्योंकि जबतक कोई व्यक्ति ध्वनियों को नहीं सुन सकता, वह उन्हें उच्चरित भी नहीं कर सकता। तो क्या बधिर बौद्धिक रूप से अक्षम हैं? ऐसा देखने को तो नहीं मिलता। जन्मजात बधिर भी बौद्धिक रूप से सक्षम पाए जाते हैं। यह शायद इस कारण से है कि यद्यपि बधिर मौखिक ध्वनि-संकेतों का तो प्रयोग नहीं करते, फिर भी वे किसी अन्य प्रकार के संकेतों को काम में लाते हैं। शायद यह दृश्य-संकेत हों। परंतु जब कोई बधिर ध्वनि-संकेतों के स्थान पर दृश्य-संकेतों का माध्यम प्रयोग में लाता है तो क्या वह अपने-आप में पूर्ण भाषा होती है? शायद यही कहना सही होगा कि ऐसे दृश्य-संकेत स्वयं भी पूर्ण व्यवस्था है और यह केवल स्थूल-जगत के अर्थों को ही नहीं प्रकट करती अपितु सूक्ष्म-अमूर्त भावों व विचारों को भी अभिव्यक्त कर सकती है। यह बात इस तथ्य से पुष्ट होती है कि बहुत छोटे शिशु जो वाचिक भाषा की व्यवस्था में दीक्षित नहीं होते, वे भी सोच सकते हैं। वयस्कों में अधिकांश विचार प्रक्रिया ध्वनि-संकेतों की व्यवस्था तक ही सीमित

होती है, यानी सोचना बहुत हद तक भाषा की सीमा में बँधा होता है। शायद यह बात सही भी हो, हमारी भाषा में रंगों की शब्दावली या रिश्तेदारी की शब्दावाली की तुलना किसी यूरोपीय भाषा की ऐसी ही शब्दावली से की जाए तो यह अंतर स्पष्ट हो जाएगा। शायद हमारे विचारों का संसार हमारी भाषा के वृत्त तक ही सीमित होता है।

अभी तक अभाषिक सोच को लेकर ज्यादा शोध-कार्य नहीं हुआ है। फिर भी अब यह माना जाने लगा है कि अभाषिक सोच की भी पूरी एक व्यवस्था होती होगी। वास्तव में सोच का संबंध चेतना से है, भाषा से नहीं और कोई भी जब अचेतन नहीं होता वह सोचता ही रहता है। शायद यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि कुछ जानवर मूक होते हैं। सोचने में भाषा अवश्य मददगार है, परंतु उसके बिना भी सोचा जा सकता है। यदि हम किसी कारीगर को देखें तो उसका छवि-निमार्ण का दायरा उस कारीगर के उपकरणों- लकड़ी, मिट्टी, पत्थर, रंग, ईंट-गारा आदि से बँधा है। यानी हमारे मन में छवि-निर्माण हमारे आस-पास के उपकरणों की छाया से बँधा है। ऐसी छवियाँ रंग, स्वाद, गंध और हरकतों से बनती हैं। यह मानना सही होगा कि अमूर्त सैद्धांतिक विचार-प्रक्रिया सदा ही भाषिक नहीं होती। परंतु जब हम भाषिक माध्यम का प्रयोग करते हैं तो शब्द और अर्थ के बीच क्या रिश्ता है?

यह पहले ही कहा जा चुका है कि भाषा माध्यम है। यह माध्यम ध्वनि-संकेतों का है। ये ध्वनि-संकेत ऐच्छिक हैं। अतः जब हम शब्द में कोई अर्थ देते हैं तो वह मात्र प्रतीक है। यह प्रतीक अपूर्ण है, क्योंकि हम प्रतीक से उस वस्तु के रूप, गुण, स्वभाव और धर्म के मोटे-मोटे लक्षण ही व्यक्त करते हैं, जैसे-आम। 'आम' कहने से श्रोता के मन में एक हरे या पीले रंग के ऐसे फल का चित्र अंकित होता है जिसका एक अलग स्वाद और मिठास होती है, जो केला या अन्य फलों से भिन्न होता है। वस्तु की वास्तविकता को किसी शब्द से बाँधना संभव नहीं है। फिर जितना भी हम उस शब्द में वास्तविकता को बाँधते हैं, वह वक्ता और श्रोता के बीच ठीक-ठीक उसी प्रकार हस्तांतरित नहीं होता। यहाँ निकटगामी व्यवस्था (Approximative System) काम करती हैं। 'आम' को 'केले' से भिन्न मानना प्रायः स्वभाव और धर्म पर निर्भर करता है। रूप और गुण में नित्य परिवर्तन होता रहता है। भावों को प्रकट करने के लिए भरत ने अपने *नाट्यशास्त्र* में आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक-चार साधन बतलाये हैं। तो शब्द से अर्थ तक पहुँचना एक वाचिक साधन है, एकमात्र साधन नहीं और न ही अपरिहार्य उपाय ही।

भारतीय दर्शनों के अनुसार वस्तु का एक उपादान कारण होता है, दूसरा निमित्त कारण। कुर्सी में लकड़ी उपादान कारण है और बढ़ई निमित्त कारण। जब लकड़ी के तख्ते से कुर्सी बनती है तो उसका मात्र रूप और गुण बतलाता है, उसका स्वभाव और धर्म तो वही रहता है। निमित्त कारण में यह क्षमता नहीं कि वह वस्तु का स्वभाव और धर्म बदल दे। वह वस्तु में

समाया हुआ है। उसका वर्णन करने के लिए जब किसी शब्द का प्रयोग होता है तो वह निकटगामी (Approximative) अर्थ ही देता है। शब्द-कोष में जो पर्यायवाची दिए गए हैं, वे वस्तु के रूप-गुण की सूक्ष्म विभिन्नता को दर्शाते हैं। व्यापक फलक में उन सभी पर्यायवाचियों में स्वभाव और धर्म का वितान वैसा ही होगा। लकड़ी से कुर्सी बनाने वाला भी 'शरीर' नहीं 'मैं' है। इस 'मैं' के कार्य-व्यवहार से कुर्सी की डिज़ाइन बनती है।

शब्द में अर्थ आरोपित है। यह आरोपण शब्द कोषीय अर्थ का भी हो सकता है, व्याकरणिक अर्थ का भी। 'लड़का' में 'लड़क' मूल प्रतिपादक है। इसमें 'आ' लगाकर 'लड़का' बनाते हैं। 'आ' का व्याकरणिक अर्थ है- पुल्लिंग, एकवचन, सरल कारक। कर्त्ता स्थान में जो आता है उसे प्रतिपादक कहते हैं, जो क्रिया स्थान में आते हैं उसे धातु। अब कोई कह सकता है कि 'लड़क' का क्या अर्थ है, परंतु वास्तव में यही अर्थवान न्यूनतम इकाई है। 'लड़क' का यदि अर्थ यही है तो फिर प्रत्यय लगाकर लड़कपन, लड़का, लड़की, लड़कियाँ, लड़के आदि अर्थ प्राप्त नहीं कर सकते। व्याकरणिक अर्थ का भी अपना महत्त्व है। इसे एक उदाहरण से समझाया जा सकता है- 'लड़के' एकवचन भी है, बहुवचन भी। 'लड़के जाते हैं' में यह बहुवचन है। 'लड़के ने खाना खाया', यहाँ एकवचन है। बहुवचन में 'ए' प्रत्यय का अर्थ पुल्लिंग, बहुवचन, सरल कारक है। एकवचन में इसका अर्थ है-पुल्लिंग, एकवचन, तिर्यक कारक।

शब्द और अर्थ का संबंध नित्य या अनित्य है, इस पर भारतीय चिंतकों ने काफी विचार किया है। कालिदास ने वागर्थ या शब्द-अर्थ का संबंध सम्पृक्त माना है-

वागर्थविव सम्पृक्तो वागर्थ-प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।

(रघुवंश 1/1)

इसी प्रकार तुलसीदास ने कहा है- गिरा अर्थ जल-बीचि-सम लखियात भिन्न न भिन्न।

भारतीय शास्त्रों में शब्दार्थ संबंध की इस प्रक्रिया को शब्द-बोध कहा है ताकि पुस्तक से इक्के में जोते जाने वाले 'अश्व' का बोध नहीं होता।

परंतु शब्द से किसी अर्थ की इस सिद्धि को हम अभी अभिधा के स्तर पर ही देख रहे हैं, लक्षणा और व्यंजना के स्तर पर नहीं। 'गंगायाम् घोषः।' गंगा पर घर है-पर गंगा तो बहता नीर है, उस पर घर कैसे हो सकता है? तो लक्षणा से अर्थ किया कि गंगा के किनारे पर है घर। व्यंजना से अर्थ प्राप्त किया कि वह पवित्र स्थान है।

शब्द का प्रयोग अपने में निहित और अपने से अभिन्न अर्थ को बतलाने के लिए किया जाता है। शब्द सुनने के बाद जो वाक्यार्थ बोध होता है, वह अनुभव रूप है। क्योंकि वक्ता और श्रोता का वस्तु बोध एक जैसा नहीं होता इसलिए अर्थ भी पूर्णतः एक जैसा नहीं होता। फिर भी वह सर्वथा विजातीय नहीं होता, यदि ऐसा होता हो तो फिर सम्प्रेषणीयता स्थापित ही नहीं हो सकती। शब्द और अर्थ के बीच वस्तु की वास्तविकता के अनेकानेक लक्षणों-रूप, गुण, स्वभाव और धर्म-पर आधारित एक संबंध होता है और वही

संबंध शब्द से अर्थ के बोध का नियमन करता है। यही संबंध किसी एक शब्द से उसी अर्थ का बोध नियत करता है। वक्ता और श्रोता यदि इस संबंध को जानता है तो अर्थ बोध की प्रतीति होती है अन्यथा नहीं। इसी संबंध में व्याघात होने पर अन्यार्थ की प्राप्ति हो सकती है या किसी भी अर्थ का बोध न हो और श्रोता को वक्ता द्वारा कहा कथन कोलाहल (noise) लगे।

भारतीय मनीषियों ने शब्द विशेष के किसी अर्थ विशेष के संबंध पर काफी चर्चा की है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि शब्द वास्तविकता नहीं है, शब्द और अर्थ की आपसी भिन्नता उनके वैर्धम्यों से सिद्ध होती है। जैसे–अग्नि शब्द से दाह नहीं होता किंतु अग्नि से दाह होता है। शर्करा शब्द से मुँह मीठा नहीं होता, किंतु शर्करा से मुँह मीठा होता है। कुछ व्याकरणों का कहना है कि यह सही है कि शब्द से मुँह में मीठापन नहीं आता, परंतु शब्द में अर्थ का तादात्मय 'भिन्नत्वेसति अभिन्नत्यारोप' है, यानी शब्द में अर्थों का बोध न होकर नियत शब्दों से नियत अर्थों का ही बोध होता है। यही मत मुख्यत: वैयाकरणों और आलंकारिकों को मान्य है।

किसी शब्द से उसके फैलाव को कदंब गोलक न्याय से जाना जा सकता है। कदंब का कुडमल जब विकसित होने लगता है, तब उसके चारों ओर अनेक पुष्पदलों की पंक्ति बनती है। शब्द अपनी परिधि के चारों ओर इसी तरह अर्थ के वितान को फैलाता है।

शब्द और अर्थ की यह प्रतीति कभी–कभी शब्दार्थ स्तर से ऊँचे उठाकर प्रोक्ति (Discourse) से प्राप्त होती है। इसी से जैन साहित्य में अर्थ के अनेक प्रकारांतर बतलाये गये हैं। जैसे– 'जनपद सत्य' के अनुसार 'चोखा' शब्द का अर्थ मारवाड़ में 'अच्छे' के लिए, मेवाड़ में 'चावल' के अर्थ में और बिहार में 'आलू' के अर्थ में प्रयुक्त होता है या स्थापना सत्य के आधार पर शतरंज के मौहरों को हाथी, घोड़ा, वजीर कहना या नाम सत्य के आधार पर अचक्षु को 'नयनसुख' कहना।

परंतु मूल बात यह है कि शब्द में अर्थ आरोपित है। यह आरोपण निकटगामी है, पूर्ण नहीं। सह निकटगामिता भी श्रोता और वक्ता के बीच एक जैसी नहीं है। रूप, गुण, स्वभाव और धर्म के कुछ लक्षणों को ही अभिव्यक्त करती है ताकि हम 'आम' से 'केले' का अर्थ नहीं लेते हैं। यह आरोपण रूढ़ हो जाने के कारण श्रोता और वक्ता के बीच संवाद बनाये रखता है। परंतु असलियत यह है कि शब्द में अर्थ आघान (Embedded) नहीं है। यह जानकर हमें शब्द नहीं अर्थ पर ध्यान देना चाहिए।